योग-वाङ्मय के महान् प्रणेता आचार्य हरिभद्र रचित

योगदृष्टिसमुच्चय : एक विश्लेषण

☐ आचार्य डॉ. सी. एल. शास्त्री,
एम. ए. 'त्रय', पी-एच. डी., काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि

आचार्य हरिभद्र सूरि अपने युग के महान् प्रतिभाशाली विद्वान् तथा मौलिक चिन्तक थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ्य-वृत्ति के थे। उनकी प्रतिभा उन द्वारा रचित अनुयोग-चतुष्टय विषयक धर्म-संग्रहणी "द्रव्यानुयोग", क्षेत्र-समास-टीका "गणितानुयोग", पंचवस्तु, धर्म-बिन्दु "चरणकरणानुयोग", समराइच्चकहा "धर्मकथानुयोग", अनेकान्त-जयपताका "न्याय" तथा भारत के तत्कालीन दर्शन-आम्नायों से सम्बद्ध षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थों से प्रकट है।

योग के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह न केवल जैन योग-साहित्य में, वरन् आर्यों के समग्र योगविषयक चिन्तन में एक अनुपम मौलिक वस्तु है।

उनकी योग विषयक रचनाओं में योगदृष्टिसमुच्चय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसादपूर्ण प्रांजल संस्कृत के दो सौ अट्ठाईस अनुष्टुप श्लोकों में है। आचार्य ने इसमें योग के सन्दर्भ में सर्वथा मौलिक और अभिनव चिन्तन दिया है। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान के रूप में किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने आत्मा के विकास-क्रम को योग की पद्धति पर एक नये रूप में विश्लेषित किया। उन्होंने ऐसा करने में जिस शैली का उपयोग किया, वह संभवतः अब तक उपलब्ध योगविषयक ग्रन्थों में अन्यत्र प्राप्त नहीं है। उन्होंने इस क्रम को आठ योग दृष्टियों के रूप में विभक्त किया। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा, आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित आठ योग दृष्टियाँ हैं।[1]

इन दृष्टियों का विवेचन करने से पूर्व आचार्य ने योग के सम्बन्ध में एक और विवेचन दिया है, जिसे उन्होंने इन दृष्टियों को समझने से पूर्व समझ लेना उपयोगी माना है। उन्होंने इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के रूप में योग के तीन भेद किये हैं।

उन्होंने लिखा है कि योग-साधकों के उपकार हेतु मैं इच्छायोग आदि का स्वरूप व्यक्त कर रहा हूँ। इनका योग से निकटता का सम्बन्ध है।[2]

---

१. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधता ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय १३

२. इहैवेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते।
योगिनामुपकाराय व्यक्तं योगप्रसंगतः ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छायोग

आचार्य हरिभद्र ने इच्छायोग का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"एक ऐसा साधक है, जिसकी धर्म करने की हार्दिक इच्छा है, जो श्रुत या आगम के तत्त्व का ज्ञाता है, शास्त्र-ज्ञान का जो अधिकारी है, पर प्रमाद के कारण उसका धर्मयोग-धर्माराधना विकल या असम्पूर्ण है, ऐसे साधक का योग-उपक्रम इच्छायोग कहा जाता है।"[1]

इच्छा का आशय यहाँ धर्म करने की आन्तरिक भावना, परम रुचि, परम प्रीति, भक्ति भाव या प्रशस्त राग है। इस सन्दर्भ में विवेचक विद्वानों ने विशेषरूप से कहा है कि यह इच्छा निर्दंभ होनी चाहिए। दंभ, कपट, माया या ढोंग जहाँ इच्छा के साथ जुड़ जाते हैं, वहाँ उसकी निरर्थकता स्वतः सिद्ध है। दंभ आत्मविकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। दंभी के अन्तर्हृदय में धर्म के पवित्र सिद्धान्त टिक नहीं सकते। उन्हें तो टिकने के लिए पवित्र, सरल, निश्छल पृष्ठभूमि चाहिए। उपाध्याय यशोविजय ने दंभ की परिहेयता का वर्णन करते हुए अध्यात्मसार में बहुत सुन्दर लिखा है। उन्होंने कहा है—

"दंभ मुक्ति रूपी बेल को जला डालने के लिए आग है। वह धर्मक्रिया रूपी चन्द्रमा को ग्रस लेने के लिए राहु है। दुर्भाग्य या घोर अनिष्ट का कारण है, आध्यात्मिक सुख को रोकने के लिए वह अर्गला है।

"दंभ ज्ञान के पर्वत को भग्न या विनष्ट कर डालने में वज्र है। वह काम की अग्नि को बढ़ाने में घृत है। विपत्तियों का सुहृद् है—मित्र है तथा व्रत-लक्ष्मी को चुराने वाला चोर है।

"जो व्यक्ति दंभ, छल या स्वदोष-आच्छादन हेतु व्रत स्वीकार कर परम पद पाना चाहता है वह लोह की नौका पर सवार होकर समुद्र को लांघने की इच्छा करता है।

"यदि दंभ नहीं मिटा तो व्रत से, तप से क्या बनने वाला है? यदि नेत्रों का अन्धापन नहीं गया तो दर्पण का क्या उपयोग है?

"बाल उखाड़ना, जमीन पर सोना, भिक्षा से जीवन चलाना, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करना—दंभ से ये सब दूषित हो जाते हैं, निष्फल बन जाते हैं, जैसे—काकपदादि दोष-काले धब्बे आदि से बहुमूल्य रत्न दूषित हो जाता है।

"रस-लम्पटता—सुस्वादु भोजन के प्रति लोलुपता, देह की सज्जा तथा काम्य भोग—इनका त्याग सरलता से किया जा सकता है, परन्तु दंभ का त्याग बहुत कठिन है।"[2]

---

१. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ३

२. दंभो मुक्तिलतावह्निर्दंभो राहुः क्रियाविधौ।
दौर्भाग्यकारणं दंभो दंभोऽध्यात्मसुखार्गला॥
दंभो ज्ञानाद्रिदंभोलिर्दंभः कामानले हविः।
व्यसनानां सुहृद्दंभो दंभश्चोरो व्रतश्रियः॥
दंभेन व्रतमास्थाय यो वांछति परं पदम्।
लोहनावं समारुह्य सोऽब्धेः पारं यियासति॥

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंभशून्य इच्छा आराधक को अपने पथ पर अग्रसर होने को सहजतया उत्साहित करती है। यह साधनोद्यत साधक की प्रारंभिक पर अत्यन्त उपयोगी भूमिका है। इच्छा किसी भी कार्य का पूर्व रूप है। इच्छा जब तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम हो जाती है तो सहज ही भीतर ही भीतर कर्मशक्ति उद्वेलित होती है।

इच्छा भावना का विषय है। इच्छा को कार्य की ओर अग्रसर होने में ज्ञान या विवेक का साहचर्य चाहिए। ज्ञान-सहचरित इच्छा यथार्थ की ओर गतिशील होती है।

इच्छायोग की भूमिका में स्थित साधक सम्यक्दृष्टि होता है; ज्ञानसम्पन्न होता है। इच्छा, श्रद्धा और ज्ञान के सहारे वह अपने साधना-पथ पर गतिशील रहता है। पर उसमें निरन्तरता या अस्खलितता नहीं रहती, क्योंकि भीतर प्रमाद विद्यमान रहता है, इसलिए उसका योग अविकल नहीं होता, विकास असंपूर्ण होता है। प्रमाद बड़ा भयावह है। माद का अर्थ मदोन्मत्तता, नशा या मस्ती है। जब उसकी मात्रा सघनता ले लेती है, तो वह प्रमाद बन जाता है। प्रमाद से आच्छन्न व्यक्ति पर भीषण नशा छा जाता है। मदिरा पीया हुआ मनुष्य जिस प्रकार नशे के कारण लड़खड़ाता हुआ कहीं गिर पड़ता है, वही स्थिति प्रमाद के नशे से ग्रस्त व्यक्ति की होती है। इच्छा उत्साह देती है, ज्ञान मार्ग देता है, आस्था गतिशील रहने को प्रेरित करती है। गति में सप्राणता आती है, पर ज्यों ही प्रमाद का एक झटका लगता है, गति कुंठित हो जाती है। योग में स्खलना आ जाती है। वह विकल, कुण्ठित या बाधित हो जाता है।

जैन आगमों में प्रमाद छोड़ने व अप्रमादमय जीवन स्वीकार करने की स्थान-स्थान पर बड़े स्फूर्त्त शब्दों में प्रेरणा दी गई है। उत्तराध्ययनसूत्र में इस संदर्भ में बड़ा उद्‌बोधप्रद विवेचन है। कहा गया है—

"जीवन की टूटने वाली डोर सांधी नहीं जा सकती। जरा-वृद्धावस्था से आक्रांत हो जाने पर मनुष्य शक्ति-टूट होकर अशरण बन जाता है। इन स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह जरा भी प्रमाद न करे। जरा सोचे, जो प्रमत्त, हिंसारत और अयत-असंयतेन्द्रिय हैं, मौत के समय किसकी शरण ग्रहण करेंगे?"[1]

और भी कहा है—

किं व्रतेन तपोभिर्वा दंभश्चेन्न निराकृतः।
किमादर्शेन किं दीपैर्यद्यान्ध्यं न दृशोर्गतम्॥
केशलोचधराशय्याभिक्षाब्रह्मव्रतादिकम्।
दंभेन दूष्यते सर्वं त्रासेनेव महामणिः॥
सुत्यजं रसलांपट्यं सुत्यजं देहभूषणम्।
सुत्यजाः कामभोगाश्च दुस्त्यजं दंभसेवनम्॥ —अध्यात्मसार ५४-५९

१. असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णु विहिंसा अजया गहिंति॥
—उत्तराध्ययन ४.१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तुम्हारा शरीर परिजीर्ण हुआ जा रहा है, केश पक कर सफेद बनते जा रहे हैं, तुम्हारे कानों की शक्ति तथा अन्य इन्द्रियों की शक्ति ह्रास पाती जा रही है, क्या नहीं देखते ? क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत करो।"[1]

"जिस प्रकार कमल शरद्‌ऋतु के निर्मल जल से भी अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तुम आसक्तियों से अलिप्त रहो, ऊँचे उठ जाओ, स्नेह-रागात्मक बन्धनों का वर्जन कर डालो—उनका परित्याग कर दो। यह तभी होगा, जब तुम क्षण भर के लिए भी प्रमाद नहीं करोगे।"[2]

"तुम कंटकाकीर्ण मार्ग को छोड़कर विशुद्ध महापथ पर आये हो। क्षण भर भी प्रमाद किये बिना विशुद्ध भाव से इस पर बढ़ते रहो।

"जैसे कोई निर्बल भारवाहक ऊबड़-खाबड़ मार्ग में पड़कर पश्चात्ताप करता है, कहीं तुमको भी बाद में वैसा न करना पड़े। इसलिए क्षण भर भी प्रमाद मत करो।"[3]

भगवान् महावीर ने गौतम को संबोधित कर उपर्युक्त बातें कही थीं, जो प्राणी मात्र के लिए लागू हैं। वास्तव में गौतम तो निमित्तमात्र थे। भगवान् महावीर का उपदेश तो सभी के लिए था।

आचारांगसूत्र में कहा गया है—प्रमत्त या प्रमादी को सब ओर से भय ही भय रहता है। अप्रमत्त या अप्रमादी को किसी ओर से भय नहीं रहता, वह सर्वथा निर्भय रहता है।[4]

अन्यान्य शास्त्रों में भी प्रमाद को अनर्थमूलक एवं हानिकारक बताया गया है। आचार्य शंकर ने प्रमाद की बड़े ओजस्वी शब्दों में भर्त्सना की है—

"ज्ञानी के लिए प्रमाद से बढ़कर कोई दूसरा अनर्थ नहीं है। प्रमाद से मोह उत्पन्न होता है। मोह से अहंबुद्धि पैदा होती है, उससे बन्ध निष्पन्न होता है, जिसका परिणाम व्यथा-वेदना या संक्लेश है।"[5]

---

१. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—उत्तराध्ययनसूत्र १०.२१

२. वुच्छिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—उत्तराध्ययनसूत्र १०.२८

३. अवसोहिय कंटगापहं, ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमे वगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—उत्तराध्ययनसूत्र १०.३२,३३

४. सव्वओ पमत्तस्स भयं
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं। —आचारांग के सूक्त, अंक ६३, पृ. १६४

५. न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनो स्वस्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बंधस्ततो व्यथा ॥ —विवेकचूडामणि

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छायोग में अवस्थित साधक को इस बात के लिए सदा प्रयत्नशील रहना होगा कि वह पद-पद पर आने वाले प्रमाद का सामना करे, उसे अपने पर हावी न होने दे। ऐसा करने के लिए उसे सतत अन्तर्जागरित रहना होगा। ज्यों-ज्यों वह अपने प्रयत्न में सफल होता जायेगा, उसकी साधना गति पकड़ती जायेगी।

शास्त्रयोग

साधक की एक ऐसी भूमिका होती है, जहाँ वह यथाशक्ति अप्रमादावस्था साध लेता है, शास्त्र का उसे तीव्र बोध होता है, आगम तथा काल आदि की दृष्टि से उसका योग अविकल-अखण्ड होता है।[1]

शास्त्रयोग में शास्त्रज्ञान की प्रधानता है। आगमज्ञान या श्रुत-बोध उसमें इतनी तीव्रता लिए होता है, उसमें इतना कौशल और नैपुण्य होता है कि उसकी अपेक्षा से वह योग अविकल या अखण्ड स्थिति पा लेता है। जिनकी शास्त्रज्ञता इतनी गहन होती है, वे अपने द्वारा आचरित कार्यों के यथार्थपन और अयथार्थपन की भलीभाँति जानकारी रखते हैं। फलतः वे जागरूक रहते हैं तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अतिचार का सेवन नहीं करते। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार का ऐसे साधक अविकल रूप में पालन करते हैं। इनके समय, पद्धति, विधि आदि का उन्हें यथावत् ज्ञान होता है, जिससे वे ठीक पालन करने में सक्षम होते हैं। उनका वैसा आचरण त्रुटि-शून्य या विकलता-रहित—अखण्ड होता है। इसलिए शास्त्रयोग को अविकल कहा गया है।

"शास्ति इति शास्त्रम्"—जो शासन करता है, आदेश करता है, उसे शास्त्र कहा जाता है। शास्त्र करने योग्य कार्य का आदेश करता है। शास्तापुरुष, आप्तपुरुष या प्रमाणभूत पुरुष का वचन भी शास्त्र कहा जाता है। क्योंकि वह कार्य-अकार्य का, विवेकपूर्वक कार्य-करने योग्य का विधान करता है। शासन का—शास्त्र का अर्थ त्राण या रक्षा करने वाला भी है। संसार के आवागमन, जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाकर शास्त्र शाश्वत सुख का मार्ग बताता है। इस प्रकार वह जागतिक भय से बचाव करता है। जिन्होंने राग, द्वेष, वासना, लोभ, मोह जैसी वृत्तियों का सम्पूर्ण रूपेण उच्छेद कर सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लिया है, वे ऐसी वाणी बोलते हैं, जो सत्य, तथ्य तथा त्रिकालाबाधित होती है। उनकी वाणी आप्तवचन या शास्त्र कोटि में आती है।

ज्ञान का कोई पार नहीं है। शास्त्र महासागर की तरह विशाल है। उसका पार पाना निश्चय ही दुष्कर है। क्षयोपशम, अभ्यास तथा सद्गुरु के अनुग्रह से शास्त्रयोगी शास्त्र-सागर को एक अपेक्षा से पार कर चुका होता है। वैसे शास्त्र के मूल रहस्य को जो एक शुद्ध आत्मा के रूप में अवस्थित है, जान लेता है, वह शास्त्र का नवनीत पा लेता है।

आचार्य कुंदकुंद ने तो यहाँ तक लिखा है—

---

१. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जो श्रुत—शास्त्र द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जान लेता है, लोकप्रदीपकर—जगत् को ज्योति प्रदान करने वाले ऋषि, द्रष्टा या ज्ञानी उसे श्रुतकेवली, शास्त्रों का संपूर्ण वेत्ता कहते हैं।

"जो समग्र श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिन श्रुतकेवली कहते हैं। समस्त श्रुतज्ञान अन्ततः आत्मा के ज्ञान में ही समाविष्ट होता है, इसलिए एक आत्मा को जानने वाला श्रुतकेवली है।"[1]

आचार्य कुंदकुंद ने बहुत गहरी बात कही है। एक आत्मा को जान लेना कोई साधारण बात नहीं है। एक आत्मा को जानने वाला उस आत्मज्ञान के परिपार्श्व में क्या बहुत कुछ, सब कुछ नहीं जान लेता ? इसीलिए तो आचारांग सूत्र में कहा है—

"जो एक को जानता है, वह सब को जानता है, जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र की "अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका" की स्याद्वाद, मंजरी नामक व्याख्या के रचनाकार आचार्य मल्लिषेण प्रथम श्लोक[3] की व्याख्या में प्रसंगोपात्ततया लिखते हैं—

"अनन्त विज्ञान के बिना किसी एक भी पदार्थ का यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता।"[4]

वहाँ उन्होंने आचारांग का उक्त वचन उद्धृत किया है और उसे विशेष रूप से स्पष्ट किया है—

"जिसने एक भाव को सर्वथा—सब प्रकार से—सम्पूर्ण रूप में देख लिया, उसने सभी भाव सर्वथा देख लिए। जिसने सब भाव सर्वथा देख लिए, उसने एक भाव सर्वथा देख लिया।"[5]

इसका सारांश यह है कि किसी एक तत्त्व को सम्पूर्ण रूप में जानने का अधिकारी वही कहा जा सकता है, जो उसके अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को भी जानता है। उन्हें जाने बिना उस एक तत्त्व की अनेक अपेक्षाओं से जुड़ा हुआ ज्ञान अप्राप्त रह जाता है।

---

१. जो हि सुदेणभिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा॥ —समयसार १.९-१०

२. जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥ —आचारांग के सूक्त ६२

३. अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयंभुवं स्तोतुमहं यतिष्ये॥ —अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका,

४. विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत्परिज्ञानाभावात्।
—स्याद्वादमंजरी पृ. ५८, सं. ए. बी. ध्रुव

५. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः,
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा,
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥ —स्याद्वादमंजरी पृ. ५८, सं ए. बी. ध्रुव

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रयोगी की दूसरी विशेषता श्रद्धालुता है। वह परम श्रद्धावान् होता है। परमार्थ के प्रति, आप्त पुरुषों के प्रति, शास्त्र और सद्गुरु के प्रति उसके मन में अटल श्रद्धा होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है—

"मनुष्य-जन्म, श्रुति—धर्म-श्रवण, श्रद्धा तथा संयम में पराक्रम—चारित्र-पालन में तीव्र प्रयत्न—प्राणी को ये चार उत्तम संयोग प्राप्त होने बहुत दुर्लभ हैं।"[१]

ये चारों ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनमें जीवन की सार्थकता समाहित है। इनमें भी श्रद्धा का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि श्रद्धा के अभाव में इन सबकी सार्थकता निरस्त हो जाती है।

गीता में विभिन्न प्रसंगों पर श्रद्धा का बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। गीताकार ने कहा है—ज्ञान-रहित, श्रद्धा-रहित और संशय-ग्रस्त पुरुष—ये तीनों विनष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनका उत्थान अवरुद्ध हो जाता है।

उन्होंने संशयापन्नता को तो और भी बुरा बतलाया है। कहा है कि संशयात्मा का न यह लोक सधता है और न परलोक ही सधता है, उसे कहीं सुख प्राप्त नहीं होता।[२]

आचार्य शंकर ने इस प्रसंग की व्याख्या में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"यद्यपि अज्ञ और श्रद्धाशून्य—ये दोनों नष्ट होते ही हैं, पर उस तरह नहीं, जिस तरह संशयात्मा। संशयात्मा तो सर्वाधिक पापिष्ठ है।"[३]

वास्तव में प्राणी का जीवन श्रद्धा, आस्था और विश्वास पर टिका है। समग्र जीवन-व्यवहार के मूल प्रेरक स्रोत यही हैं। श्रद्धा और विश्वास के सहारे व्यक्ति कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है, क्या से क्या कर डालता है। गीताकार ने "श्रद्धामयोयं पुरुषः"—यह पुरुष श्रद्धामय है, ऐसा जो उल्लेख किया है, बड़ा पारमार्थिक है। इसके साथ "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" गीताकार ने इतना और कहा है। अर्थात् जिस प्राणी की जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वही है, उस श्रद्धा के अनुरूप ही है।[४]

श्रद्धा से अन्तःशक्ति का उद्रेक होता है। महाभारत में वर्णित एकलव्य का वृत्तान्त इसका साक्षी है। एकलव्य ने आचार्य द्रोण की मृत्तिकानिर्मित प्रतिमा में गुरुत्व की श्रद्धा कर धनुर्विद्या में अप्रतिम कौशल प्राप्त किया, जो द्रोण के परम प्रिय और योग्य शिष्य अर्जुन के लिए भी ईर्ष्या का विषय बन गया।

---

१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥ —उत्तराध्ययनसूत्र ३.१

२. अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ४.४०

३. अज्ञाश्रद्धानौ यद्यपि विनश्यतः तथापि न तथा यथा संशयात्मा, संशयात्मा तु पापिष्ठः सर्वेषाम्॥

४. श्रीमद्भगवद्गीता १७.३, शांकरभाष्य ४.४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता के १७वें अध्याय में यज्ञ, दान, तप तथा कर्म के सत्स्वरूप एवं असत्स्वरूप का विशद विश्लेषण किया गया है। वहाँ अन्त में श्रद्धा के सम्बन्ध में एक बड़ी मार्मिक बात कही गई है। श्रद्धा के बिना किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और आचरित शुभ कर्म असत् कहलाता है। अर्थात् यज्ञ, दान, तपश्चरण और सत्कर्म अन्तःश्रद्धा और विश्वास के बिना जहाँ होते हैं, वहाँ वे केवल यांत्रिक होते हैं, कर्ता का अन्तर्मन उनसे नहीं जुड़ता। मुख मंत्रोच्चारण करता है, हाथ हिलते हैं, द्रव्य, पदार्थ प्रयुक्त होते हैं—प्रदत्त होते हैं—होता यह सब है, पर इस होने के साथ भावना का साहचर्य नहीं है। इसलिए यह सबका सब होना निष्प्राण है। गीताकार इतना और कहते हैं कि इनका न मरने के पश्चात् और न इस लोक में ही सुखप्रद फल होता है।[1]

गीता के अन्तिम १८वें अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को संबोधित कर कहा है कि हमारा यह धर्म्य—धर्मानुप्राणित, धर्ममय संवाद जो पढ़ेगा, उसका यह ज्ञानयज्ञ एक प्रकार से मेरी पूजा या उपासना ही होगा। इस तथ्य को श्रद्धा के साथ जोड़ते हुए उन्होंने विशेष रूप से कहा कि जो श्रद्धावान् ईर्ष्यादि दोषवर्जित पुरुष इसको सुन भी लेगा, वह पाप-कर्मों से मुक्त होकर पुण्यात्मा पुरुषों को मिलने वाले शुभ लोक प्राप्त कर लेगा।[2]

आचार्य शंकर ने यहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द की व्याख्या करते हुए यह संकेत किया है कि जो पुरुष श्रद्धा से मात्र सुन लेता है, वह भी इतना महान् फल पा लेता है, समझने वाले की तो बात ही क्या ?[3]

श्रद्धा वास्तव में बड़ा दुर्लभ गुण है। यह जीवन-विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है, पर इसे आत्मसात् करना सरल नहीं। श्रद्धा में अन्तर्मन को किसी तत्त्व में समर्पित करना होता है। समर्पण के बिना तादात्म्य नहीं सधता। समर्पित होने के लिए बहुत प्रकार के अवलेपों को मन से निकालना होता है, अहंकार, मान, तथाकथित प्रतिष्ठा, प्रशस्ति जिनमें शामिल है। श्रद्धा विनय-सापेक्ष है। उसके लिए विनीत भाव की अत्यन्त आवश्यकता है। उद्धत और उद्दंड व्यक्ति बहुत बड़ा ज्ञानी भले ही हो जाय, प्रशस्त श्रद्धालु नहीं हो सकता। शास्त्रयोगी की यह विशेषता है, उसमें तीव्र ज्ञान होता है और दृढ़ श्रद्धा होती है। आत्मोन्नयन का सही पथ उसे प्राप्त होता ही है, जिस पर आगे बढ़ने में ये दो गुण उसके लिए एक प्रेरणाशक्ति के रूप में काम करते हैं।

शास्त्रकारों ने बताया है, श्रद्धा दो प्रकार की हैं—संप्रत्ययात्मक तथा आज्ञाप्रधान। संप्रत्यय का अर्थ सम्यक् रूपेण तत्त्व-प्रतीति है। यह गहन अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं परीक्षण-

---

१. अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ —श्रीमद्भगवद्गीता १७.२८

२. श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ —श्रीमद्भगवद्गीता १८-७१

३. श्रद्धावान् श्रदद्धानः अनसूयः च असूया वर्जितः सन् इमं ग्रन्थं शृणुयाद् अपि यो नरः अपि शब्दात् किमुत अर्थज्ञानवान् सः अपि पापाद् मुक्तः शुभान् प्रशस्तान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् अग्निहोत्रादिकर्मवताम्।
—श्रीमद्भगवद्गीताशांकरभाष्य १८,७१

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापेक्ष है। जिस प्रकार सोने के खरेपन को जांचने के लिए उसे कसौटी पर घिसा जाता है, भीतर कोई अन्य धातु मिली हुई न हो, इसलिए उसके टुकड़े करके देखा जाता है, सूक्ष्म रूप में इतर धातु-कण न मिले हों, इसके लिए उसे तपाया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रयोगी तन्मयतापूर्वक शास्त्रगत तत्त्व को परखता है—जिज्ञासा और आत्म-कल्याण की भावना से। जिस प्रकार कस, छेद और ताप द्वारा सोने का खरापन प्रकट हो जाता है, गृहीता आश्वस्त हो जाता है, उसी प्रकार शास्त्रयोगी शास्त्र की मोक्षपरकता या अध्यात्मोत्कर्षमूलकता के प्रति सर्वथा आश्वस्त, विश्वस्त और दृढ़श्रद्ध हो जाता है। यह शास्त्रयोगी की संप्रत्ययात्मक श्रद्धा है। इस तरह निष्पन्न श्रद्धा स्वभावत: अडिग होती ही है।

आज्ञा-प्रधान श्रद्धा आप्तपुरुष, परम विश्वस्त पुरुष के प्रति विश्वास या आस्था से पैदा होती है। आप्तपुरुष राग, द्वेष, मोह, माया, लोभ आदि से सर्वथा विमुक्त होता है, इसलिए उसका वचन संपूर्ण रूप से सत्य होता है। क्योंकि राग, द्वेष, मोह आदि ही सत्य की प्रतीति, अभिव्यक्ति और प्रतिपादन में बाधक होते हैं। ये उसमें होते नहीं, इसलिए उसका वचन निर्बाध और निर्द्वन्द्व रूप में उपादेय एवं ग्राह्य होता है। आप्त पुरुष को सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की साक्षात् अनुभूति होती है। इसलिए उसका निरूपण हेतु और तर्क से अबाध्य होता है। शास्त्रयोगी यह सोचकर असंदिग्ध रूप से आप्तपुरुष के निरूपण में श्रद्धावान् होता है। इसे आज्ञाप्रधान इसलिए कहा जाता है कि जिस प्रकार आज्ञा या आदेश को बिना ननु-नच के स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार वीतराग आप्तपुरुष प्रतिपादित आगम अथवा शास्त्र को ग्रहण किया जाता है। उसे ग्रहण करते किसी प्रकार का प्रश्नचिह्न मन में खड़ा नहीं होता, क्योंकि शास्त्रयोगी जानता है कि काल का विपर्यय, विशिष्ट ज्ञान का विच्छेद, बुद्धि का मान्द्य तथा पुरुषार्थ के प्रकर्ष का अभाव आदि अनेक ऐसे कारण हैं, जिनसे वह स्वयं सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को अपनी प्रज्ञा के सहारे आत्मसात् नहीं कर पाता किन्तु वीतराग आप्तपुरुष ने जो कुछ कहा है, वह सर्वथा सत्य एवं ग्राह्य है। आप्तपुरुष का मायाविरहित, स्पृहारहित तथा आसक्तिशून्य पवित्र जीवन ही इसका प्रमाण है कि वे अन्यथा भाषण नहीं करते। वे सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी हैं, इसलिए सत्य संपूर्णरूप से उनके ज्ञान का विषय है।

ये दोनों प्रकार की श्रद्धाएँ साधक को सत्य सिद्धान्त के प्रति समर्पित बना देती हैं। शास्त्रयोगी में संप्रत्ययात्मक अथवा आज्ञाप्रधान श्रद्धा निर्द्वन्द्व रूप में होगी।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, श्रद्धा शास्त्रयोगी का वह संबल है, जिसके सहारे वह उत्तरोत्तर अप्रमत्त भाव की ओर बढ़ता जायेगा, जो आत्मा के उन्नयन का निर्बाध पथ है।

सामर्थ्ययोग

सामर्थ्य शब्द समर्थ से बना है। समर्थ का भाव सामर्थ्य है। समर्थ में सम्+अर्थ का योग है। सम् उपसर्ग सम्यक् वाची है, अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन, आशय, लक्ष्य या ध्येय है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार समर्थ वह है, जिसमें अपने आशय या ध्येय के सम्यक् निर्वाह या संपूर्ति की योग्यता है। यों समर्थ का अर्थ सक्षम, प्रबल, शक्तिमान् या योग्य होता है। सामर्थ्य का अभिप्राय क्षमता, प्रबलता, शक्तिमत्ता या योग्यता है। सामर्थ्ययोग आत्मशक्ति-सापेक्ष है। वास्तव में साधना का मुख्य आधार आत्मशक्ति ही है। उसके न होने पर अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधन, उपक्रम, आधार अकृतकार्य रहते हैं। सामर्थ्ययोग आन्तरिक शक्ति या ऊर्जा के उद्रेक पर आधृत है। आचार्य हरिभद्र ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है—

"शास्त्र में जिसका उपाय तो बतलाया गया है, पर जो उसको अतिक्रान्त कर शक्ति के उद्रेक पर टिका है, इस विशेषता के कारण जो शास्त्रीय परिधि से अतीत है, वह सामर्थ्ययोग है, उत्तम है।"[1]

शास्त्र किसी भी विषय में सामान्यतया मार्गदर्शन करता है। शास्त्र को पढ़कर व्यक्ति मार्ग का ज्ञान प्राप्त करता है। पर, जब वह शास्त्र संदर्शित मार्ग पर आगे बढ़ता है, आगे बढ़ने में शक्ति लगाता है, तो उसकी गति विशेष तीव्रता पकड़ती है और उसे नये-नये अनुभव प्राप्त होते हैं। ये नये-नये अनुभव आत्म-शक्ति के उद्रेक के कारण होते हैं। उन्होंने विशेष तौर से सामर्थ्ययोग के साथ "उत्तम" विशेषण दिया है। उसका आशय यह है कि साधक योग-साधना द्वारा जिस लक्ष्य को हस्तगत करना चाहता है, वह शास्त्र के पढ़ने-सुनने मात्र से सिद्ध नहीं होता। वह शक्ति या सामर्थ्य का उपयोग करने से ही सिद्ध होता है। इसलिए सामर्थ्ययोग को "उत्तम" कहा गया है।

आचार्य इसी तथ्य को कुछ और स्पष्ट करना चाहते हैं। वे लिखते हैं—

"सिद्धिपद या मोक्ष की प्राप्ति के जो कारण-विशेष हैं, योगियों को तत्त्वतः उनका बोध शास्त्र द्वारा सर्वथा हो सके, यह संभव नहीं है।"[2]

शास्त्र की एक सीमा है। अतः शास्त्र द्वारा तत्त्वों का एक सीमा-विशेष तक ही अवबोध हो सकता है, वह भी उनके स्थूल रूप का। सूक्ष्म तो शब्द या वाणी का विषय ही नहीं। इसीलिए उपनिषद् के ऋषि स्थान-स्थान पर "यतो वाचो निवर्तन्ते" का उद्घोष करते देखे जाते हैं। मोक्ष जीवन का परम दिव्य, परम निर्मल, परम उज्ज्वल स्वरूपावबोध या स्वरूपाधिकार की स्थिति है, जो स्वानुभूति का विषय है। जिनसे वह फलित होता है, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि आत्मिक भाव भी शाब्दिक व्याख्या की पकड़ में नहीं आते। अन्तर्मन्थन में साधक को उनकी दिव्यता की झलक कभी-कभी अनुभूत हो जाती है। इसलिए यहाँ आचार्य ने सिद्धि-प्राप्ति के हेतु-विशेष शास्त्र के सहारे अवगत नहीं हो पाते, ऐसा जो कहा है, उसका यही अभिप्राय है कि ये जागरित शक्ति की अनुभूति के विषय हैं।

प्रस्तुत विषय को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से आचार्य लिखते हैं—

"यदि सर्वथा शास्त्र द्वारा ही सम्यक् दर्शन आदि का परिच्छेद-परिज्ञान हो जाय तो इससे उन विषयों के साक्षात्कारित्व या प्रत्यक्ष आत्मसात् होने की बात बनती है। ऐसा हो

---

१. शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद् विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ।। —योगदृष्टिसमुच्चय ५

२. सिद्धयाख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः ।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ।। —योगदृष्टिसमुच्चय ६

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय तो फिर सर्वज्ञता भी सिद्ध हो और उससे सिद्धि-सिद्धावस्था या मुक्तावस्था भी प्राप्त हो जाय ।"[1]

यह एक विकल्प है जो आचार्य ने स्वयं प्रस्तुत किया है, जिसका समाधान उपस्थित-करते हुए उन्होंने बताया है—

"ऐसा हो नहीं सकता—शास्त्र द्वारा सर्वथा परिज्ञान सम्भव नहीं है। यह तो प्रातिभ-ज्ञान—प्रतिभा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से ही सम्भव है, जो सामर्थ्ययोग में सधता है, जो वाणी का विषय न होकर आन्तरिक अनुभूति का विषय है। सर्वज्ञत्व आदि उसी अनुभूति-परक दिव्यज्ञान से फलित होते हैं।"[2]

प्रतिभा का अर्थ विशिष्ट प्रकाश—असाधारण ज्योति या आत्मानुभूति का आलोक है। यह तभी आविर्भूत होता है जब अन्तरतम में ज्ञान की एक दिव्य झलक उद्भासित होती है। सामर्थ्ययोग में अन्तःसामर्थ्य के कारण ऐसी स्थिति सम्भावित है, जो गूंगे के गुड़ की तरह अनुभव ही की जा सकती है, वाच्य-विषयता में नहीं ली जा सकती।

सामर्थ्ययोग के दो भेद हैं, जिनका विवेचन आचार्य हरिभद्र के शब्दों में निम्नांकित है—

"धर्म-संन्यास तथा योग-संन्यास के नाम से सामर्थ्ययोग दो प्रकार का है। क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले भाव धर्म कहे जाते हैं और शरीर आदि के कर्म योग कहे जाते हैं। धर्म-संन्यास में क्षायोपशमिक भावों का तथा योग-संन्यास में शरीर, मन एवं वाणी के कर्मों का संन्यास या त्याग होता है।"[3]

धर्मसंन्यासयोग

धर्मसंन्यासयोग में साधक कर्मों को खपाता-खपाता आगे बढ़ता है। कर्मों के क्षय से क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में क्षायिक सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुण प्रकट होते हैं, वैसी स्थिति में क्षायोपशमिक भाव छूटते जाते हैं।

मन, वचन व शरीर के योगों या कर्मों का अभाव साधक की जिस अवस्था में होता है, वह अयोगावस्था शास्त्रीय भाषा में अयोगीकेवली दशा कही जाती है अर्थात् योग-संन्यास वहाँ सधता है, जहाँ साधक प्रकर्ष की उच्चतम स्थिति पा लेता है।

आचार्य ने धर्म-संन्यास और योग-संन्यास का तात्त्विक दृष्टि से और विशद विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"प्रथम प्रकार का सामर्थ्य-योग अर्थात् धर्म-संन्यास-योग—तात्त्विक धर्म-संन्यास-योग

---

१. सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ७

२. न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम्॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ८

३. द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः।
क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अपूर्वकरण में निष्पन्न होता है। दूसरे प्रकार का सामर्थ्य-योग अर्थात् योग-संन्यास-योग आयोज्यकरण से आगे सिद्ध होता है।"[1]

चिरकाल से राग-द्वेष से आबद्ध आत्मा में अप्रयत्नसाध्य जैसी एक विकास-प्रवण स्फूर्ति-रेखा खचित होती है वह आत्म-अभ्युदय की अज्ञात और अव्यक्त प्रथम रश्मि है। स्वयं उद्भूत होते आत्मा के इस परिणाम-विशेष को यथाप्रवृत्तकरण कहा जाता है। उसमें प्रयत्नसाध्यता नहीं मानी जाती। अज्ञात रूप में शनैः शनैः जो शुद्धिपरक अन्तर्-उद्वेलना या परिणति होती है, उसको यथाप्रवृत्तकरण से जोड़ा गया है। जैसे पहाड़ी नदी में पड़े पत्थर, जो स्वयं ज्ञानशून्य हैं, आपस में घिस-घिस कर विविध आकार ले लेते हैं, वैसे ही अप्रयत्नमूलक यथाप्रवृत्तकरण द्वारा प्राणियों के कर्मों की स्थिति होती है।

यह विकास की अज्ञात रूप में प्रस्फुटित होती प्रारम्भ की भूमिका है। विकास की ज्योति पाने के लिए तड़पती आत्मा में शुद्धिमूलक प्रयत्न का उद्भव पाता है। उभरते हुए वीर्योल्लास, उत्साह और उद्यम के बल पर राग-द्वेष के गढ़ को चूरती हुई आत्मा अभ्युत्थान के पथ पर अग्रसर होती जाती है। इसे जैनदर्शन की भाषा में अपूर्वकरण कहा जाता है। यह आत्मा के उन उज्ज्वल परिणामों की स्थिति है, जो पहले कभी नहीं आए। अपूर्वकरण नाम के पीछे यही हेतु प्रतीत होता है। यह दुर्लभ पर अत्यन्त अभिलषणीय आत्म-स्थिति है, जिसके पाने पर विकास का मार्ग खुल जाता है। इसकी अन्तिम परिणति ग्रन्थि-भेद के रूप में होती है। इसे प्रथम अपूर्वकरण कहा जाता है।

ग्रन्थि का तात्पर्य आत्मा के गाढ़ रागद्वेषात्मक परिणामों से परिगठित वह कर्मजनित गांठ है, जिसमें उलझा व्यक्ति सत्य की सम्यक् अनुभूति और उसमें आस्था कर नहीं पाता। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

"यह ग्रन्थि बड़ी सघन, दृढ़ और घुली हुई गांठ की तरह दुर्भेद्य है। यदि इसका भेदन हो जाय तो मोक्ष के हेतुभूत गुण प्राप्त हो जाते हैं। पर, वैसा होना बहुत कठिन है। प्रबल अध्यवसाय तथा उत्साह वहाँ चाहिए। चित्त को अस्थिर एवं कुंठित बना देने वाले अनेक विघ्न वहाँ उपस्थित होते रहते हैं। घोर युद्ध में जूझते योद्धा की तरह जो वहाँ शौर्य और पराक्रम के साथ भिड़ जाता है, वह कहीं कृतकार्य होता है। क्योंकि बहुत-सी बाधाएँ साथ में लगी जो रहती हैं।"[2]

वस्तुतः एक तुमुल संग्राम की-सी स्थिति यह है। एक ओर राग तथा द्वेष अपनी पूरी शक्ति लगाए अड़े रहते हैं, दूसरी ओर विकासोन्मुख आत्मा अपने बल एवं पराक्रम के सहारे इनके भीषण व्यूह को तोड़कर आगे बढ़ना चाहती है। स्वभाव और विभाव, सत् और असत्, श्रेयस् और अश्रेयस् के इस संग्राम में कभी सत् पक्ष असत् पक्ष को दबा लेता है तो कभी असत् पक्ष सत् पक्ष को। दृढ़ता लिए हुए इस अन्तर्युद्ध में जूझने वाली आत्मा जहाँ विकार की प्राचीरों को लांघकर ग्रन्थिभेद के निकट पहुँच जाती है, अतिरिक्त शक्ति संजोकर आगे

---

१. द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः॥ —योगदृष्टिसमुच्चय १०

२. विशेषावश्यकभाष्य ११९५-९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ने में सफल हो जाती है, वहाँ वह आत्मा जो साहस छोड़ देती है, ग्रन्थि-भेद के समीप पहुँच कर भी विकार के दुर्धर आघात सहने और उनका प्रतिकार करने में अक्षम हो वापस लौट आती है। अनेक बार प्रयत्न करने के बावजूद वह विजय-लाभ नहीं कर पाती। ग्रन्थि-भेद कर पाने में सफल होना या विजय-लाभ करना प्रथम अपूर्वकरण नामक आत्म-परिणाम से सिद्ध होता है। ग्रन्थिभेद हो जाने पर आत्मा में आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है।

आचार्य हरिभद्र ने योगबिन्दु में इस सम्बन्ध में लिखा है—

"तीक्ष्ण भाव-वज्र द्वारा—अत्यन्त उत्तम तथा प्रशस्त भावों द्वारा कर्म-ग्रन्थि रूपी दुर्भेद्य, विशाल एवं अति कष्टकारक पर्वत के तोड़ दिये जाने पर महान् साधक को यथार्थ, प्रचुर आनन्द का अनुभव होता है। रोग-पीड़ित व्यक्ति विशिष्ट औषधि द्वारा रोग के मिट जाने पर जिस प्रकार अत्यधिक प्रसन्न होता है, उसी प्रकार उस साधक के मन में अध्यात्म-प्रसाद उमड़ने लगता है।

"दूसरा आनन्द उस साधक को इस बात का होता है कि फिर वैसी दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि नहीं बंधेगी। भयंकर क्लेशों का नाश हो जाने से वह निःश्रेयस् मूलक-मोक्षोन्मुख शाश्वत कल्याण को प्राप्त करेगा।

"एक जन्मान्ध पुरुष को पुण्यों के उदय से आँखें मिल जाने पर दृश्य जगत् को देखने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वैसे ही ग्रन्थि-भेद हो जाने पर सम्यक्दर्शन प्राप्त होने से साधक को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।"[1]

यों प्रथम अपूर्वकरण में आत्मा को सम्यक्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यक्दर्शन आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन का वह उत्क्रान्त पक्ष है, जहाँ अन्तर्वृत्ति सत्य के प्रति दृढ़ आस्था ले लेती है। सम्यक्दर्शन का शाब्दिक अर्थ भी यही है। दर्शन शब्द "दृश्" धातु से बना है। दृश् धातु प्रेक्षण अर्थ में है।[2] प्रेक्षण में प्र+ईक्षण का योग है। ईक्षण का अर्थ देखना है, प्र उपसर्ग प्रकर्ष या उत्कर्ष वाचक है। जहाँ देखना सामान्य न रहकर उत्कृष्ट, प्रकृष्ट या विशिष्ट हो जाता है, वहाँ उसकी प्रेक्षण संज्ञा होती है। दर्शन का अर्थ प्रेक्षण है—विशेष रूप से, सूक्ष्मता से, गहनता से देखना। जब दर्शन सम्यक्, यथार्थ या सत्यपरक बन जाता है, तब देखने में या दृष्टि में सहज ही एक ऐसी विशेषता आ जाती है, जो व्यक्तित्व में सत्त्वमूलक अनेक नये उन्मेष जोड़ देती है।

---

१. तथा च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिमहाचले।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणि॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात्॥
भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो न भूयो भवनं तथा।
तीव्रसंक्लेशविगमात् सदा निश्रेयसावहः॥
जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवास्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः॥ —योगबिन्दु २८०-८३

२. दृश् प्रेक्षणे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसे सम्यक्दर्शन प्राप्त है, वैसा व्यक्ति सांसारिक ग्रावश्यकता या कर्त्तव्यवश धन का ग्रर्जन करता है पर वह शोषक नहीं होता। ग्रपनी दुर्बलता मान भोग-सेवन करता है, पर वह भोग-लिप्त या भोगासक्त नहीं होता। वह स्वार्थवश पर-पीडक ग्रौर उद्वेजक नहीं होता। उसके जीवन का लक्ष्य संदिग्ध या ग्रनिश्चित नहीं होता। शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व के बाहरी चिह्नों के रूप में प्रशम, संवेग, निर्वेद, ग्रनुकम्पा तथा ग्रास्तिक्य का उल्लेख किया है। प्रशम का ग्रर्थ प्रकृष्ट या उत्कृष्ट शान्तभाव है, शास्त्रीय व्याख्या के ग्रनुसार कषाय की उपशान्तता है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषाय उसके जीवन में उग्ररूप में उभार नहीं पाते। वे उपशान्त रहते हैं। क्योंकि उसकी ग्रास्था का टिकाव उस चरम सत्य पर है, जहाँ कषाय नामशेष हो जाते हैं। संवेग ग्राध्यात्मिक उत्साह या मोक्ष की ग्रभिलाषा के ग्रर्थ में है। ऐसा व्यक्ति वैषयिक सुख में उन्मत्त या ग्रन्ध नहीं बनता। उसकी परिणाम-विरसता वह जानता है, इसलिए उसकी ग्रान्तरिक ग्रभिलाषा मोक्ष के साथ जुड़ी रहती है। यही कारण है कि उसके ग्रन्तर्मन में निर्वेद-भाव उमड़ता रहता है। निर्वेद का ग्रर्थ वैराग्य या विरक्ति है। संसार की ग्रन्ततः दुःखमयता का चिन्तन कर वह मन ही मन उसके प्रति ग्लानि का ग्रनुभव करता है ग्रौर उसके मन में ऐसी भावना उमड़ती रहती है कि क्या ही ग्रच्छा हो, इसका वह परित्याग कर डाले। ऐसे पुरुष में दया या करुणा सहजतया परिव्याप्त रहती है। वह ग्रनुकम्पाशील होता है। ग्रनुकम्पा का ग्रर्थ ग्रनुकूल कम्पन है। दुःखी को देखकर स्वयं व्यथित हो जाना ग्रौर उसे दुःख से छुड़ाना ग्रनुकम्पा है। यह स्वाश्रित भी है ग्रौर पराश्रित भी। ग्रपने को पापाचरण में प्रवृत्त देखकर ग्रौर यह सोचकर कि कितना कष्टमय फल-विपाक इन पापों का होगा, ग्रपने को पापों से बचाने का प्रयत्न करना स्व-दया है। दूसरे को कष्ट में पड़ा देख उसे कष्ट से छुड़ाना, ग्रपनी ग्रोर से किसी दूसरे को कष्ट न देना पर-दया है। सम्यक्-दर्शन-समवेत पुरुष में ऐसा ग्रनुकम्पा-भाव बना रहता है। वह ग्रास्तिक होता है। जीव, ग्रजीव, पुण्य, पाप, लोक, परलोक ग्रादि तत्त्वों के ग्रस्तित्व में वह ग्रास्था रखता है।

शास्त्रज्ञ इन का पश्चानुपूर्वीक्रम मानकर भी व्याख्या करते हैं। तदनुसार इनका क्रम ग्रास्तिक्य, ग्रनुकम्पा, निर्वेद, संवेग, प्रशम, इस प्रकार बनता है। यदि गहराई से चिन्तन करें तो यह क्रम तात्त्विक दृष्टि से ग्रौर सुन्दर है। व्यक्तित्व का विकास ग्रास्तिकता से प्रारम्भ होता है। सबसे पहले ग्रास्तिकता चाहिए। तत्पूर्वक ही करुणा, वैराग्य ग्रादि विकसित ग्रौर ग्रभिवर्धित होते हैं।

तदनन्तर कर्म-स्थिति में से संख्यात सागरोपम व्यतीत होने पर दूसरे ग्रपूर्वकरण का उद्भव होता है। ग्रर्थात् ग्रपूर्व—जो पहले नहीं ग्राए ऐसे—उत्तम, प्रशस्त एवं उज्ज्वल ग्रात्म-परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिससे साधक क्षपक-श्रेणी पर ग्रारूढ हो जाता है। क्षपक-श्रेणी द्वारा कर्मक्षीण करता हुग्रा वह ग्रात्माभ्युदय के पथ पर गतिमान् रहता है। क्रोधादि कषाय रूप समग्र कर्म-प्रकृतियों को मूलतः उच्छिन्न कर देने वाला क्षायिक भाव वहाँ संप्रवृत्त रहता है। फलतः क्षायोपशमिक भाव छूट जाते हैं। ग्रन्थकार ने इसे तात्त्विक धर्म-संन्यास-योग कहा है। तात्त्विक कहने के पीछे ग्रन्थकार का यह ग्राशय है कि इस श्रेणी पर ग्रारूढ साधक ग्रागे से ग्रागे गतिमान् रहता है, वापस नहीं लौटता, च्युत नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक तितिक्षु साधक जब प्रव्रज्या या दीक्षा स्वीकार करता है, उस समय उसके मन में सहसा विषय, कषाय, वासना, आसक्ति आदि के प्रति अत्यन्त तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। जीवन के दो मोड़ों के बीच में वह होता है। उसके एक ओर मोहक भोगमय संसार होता है, दूसरी ओर भौतिक दृष्टि से अत्यन्त कष्टपूर्ण, पर आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक आनन्दमय साधनापथ होता है। उसकी अन्तःशक्ति ऐसी पवित्रता और तात्त्विकता से ओतप्रोत हो जाती है कि जागतिक भोग उसे दुःखमय एवं त्याज्य प्रतीत होते हैं। उसकी विरक्त भावना इतनी उदात्त तथा तीव्र होती है कि संयम एवं साधना के कंटकाकीर्ण, असिधारा-दुर्गमपथ को वह अत्यन्त हृद्य, आनन्दकर और प्रिय मान लेता है।

यह परिणाम-दशा एक विशिष्ट विरक्त आत्मस्थिति में उद्भूत होती है। यह अति प्रशस्त भावधारा निरन्तर गतिशील नहीं रहती। इसका समय शास्त्र में अन्तर्मुहूर्त माना गया है। जैसे प्रव्रज्या के अवसर पर ये भाव आए, परिणामों की तीव्रता में कुछ न्यूनता आई—भाव चले गए। वैसी तीव्रता साधक के जीवन में अनेक बार आ सकती है। पर, अनवरत टिकाऊपन उसमें नहीं होता। आने-जाने का क्रम बना रहता है। इसीलिए इसे अतात्त्विक धर्म-संन्यास कहा गया है।

तात्त्विक धर्म-संन्यासयोग की स्थिति इसलिए विशिष्ट है कि क्रोध, मान, माया, लोभ निष्पन्न कर्म प्रकृतियों के मूलतः उच्छेद के कारण वहाँ आत्म-अभ्युदय की एक निर्बाध प्रशस्तता विकसित होती है, जिससे आत्मा अभूतपूर्व उल्लास एवं उन्नयन से आप्यायित होती हुई चरम प्रकर्ष मूलक लक्ष्य की ओर अबाध रूप में गतिशील रहती है।

योगसंन्यासयोग

त्रयोदश गुणस्थानवर्ती केवली जब यह देखते हैं कि उनके अवशिष्ट रहे चार कर्मों में आयुष्य की स्थिति कम है, वेदनीय आदि कर्मों की भोग्य स्थिति उसकी अपेक्षा अधिक है तब वे बहुकालभोग्य कर्मों को स्व-आयुष्यपरिमित अल्पकालभोग्य बनाने के निमित्त आयोज्यकरण द्वारा समुद्घात करते हैं। आयोज्यकरण का शाब्दिक अर्थ है—आयोजित – केवली द्वारा दृष्ट मर्यादानुरूप योजित कर शुभयोग के प्रवर्तन का परिमाण-विशेष या सामर्थ्य-विशेष। इसे स्पष्ट रूप में यों समझा जा सकता है—दृष्ट मर्यादा के अनुरूप केवली अपनी अचिंत्य वीर्यवत्ता तथा असाधारण सामर्थ्य द्वारा भवोपग्राही कर्मों का प्रक्षेप करते हैं, आत्म-प्रदेशों का लोकव्यापी विस्तार करते हैं। यह सब मूल शरीर को छोड़े बिना होता है। इस प्रकार आत्म-प्रदेशों का देह से बाहर निकलना समुद्घात कहा जाता है। समुद्घात का अर्थ है—सम् सम्यक्तया, उद्घात-प्रबलतापूर्वक कर्मों का नाश या क्षय। अर्थात् इस प्रयत्न द्वारा अवशिष्ट कर्मों का बहुत तीव्रता से, शीघ्रता से भोग और क्षय हो जाता है। इसे एक गीले वस्त्र के उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि गीले वस्त्र को फैलाया न जाय तो वह बहुत देर से सूखता है। उसी को यदि फैला दिया जाय तो वह उसकी अपेक्षा बहुत जल्दी सूख जाता है। जो भोग्य-कर्म भोगे जाने में अधिक समय लेते, आत्मप्रदेशों में विस्तार द्वारा वे शीघ्र परिमुक्त हो जाते हैं। फलतः साधक अयोगावस्था पा लेता है। अर्थात् मानसिक, वाचिक तथा कायिक योग या प्रवृत्ति सर्वथा उच्छिन्न व क्षीण हो जाती है। सत् चित् आनन्द, जो आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वभाव है, उसे अधिगत हो जाता है। क्योंकि उसमें बाधा उपस्थित करने वाली योग-प्रवृत्ति बची नहीं रहती। यह योगसंन्यास योगसाधना के अन्तिम प्रकर्ष या चरम ध्येय का अधिगम है।

योग-दृष्टियां

जीवन के समग्र व्यापार एवं कार्य-कलाप का मूल आधार दृष्टि (vision) है। दृष्टि सत्त्व, रजस्, तमस् आदि जिस ओर मुड़ी होगी, जीवन-प्रवाह उसी ओर स्वतः बढ़ चलेगा। दृष्टि-परिष्कार में साधना का दैहिक, वाचिक, मानसिक सारा विधि-क्रम अन्तर्गभित हो जाता है। आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा आविष्कृत आठ योग-दृष्टियां इसी का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विस्तार हैं।

पूर्व-वर्णित इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग का अपना एक विशेष क्रम एवं रूप है और योग-दृष्टियों का अपना प्रकार है। इसलिए इन दोनों का परस्पर सीधा सम्बन्ध तो नहीं है पर सूक्ष्मता से विचार करें तो तात्त्विक दृष्ट्या परस्पर सम्बद्धता है। इसीलिए आचार्य ने इस सम्बन्ध में कहा है—

"इन तीनों—इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग का आश्रय न लिये हुए पर विशेषरूप से इनसे उत्पन्न आठ योग-दृष्टियों का यहां सामान्यरूप से वर्णन किया जा रहा है।"[1]

इच्छा-योग आदि का आश्रय न लेने की जो बात कही गई है, उसका आशय यह है कि इन योगों के भेद-प्रभेद या शाखा-प्रशाखा के रूप में इन दृष्टियों का विकास नहीं हुआ है। पर उक्त तीनों योगों में अपेक्षा-भेद से इन दृष्टियों का अन्तर्भाव हो जाता है। वहां प्रतिपादित तथ्य इन दृष्टियों में सर्वथा मौलिक, नवीन एवं हृदयस्पर्शी सरणि द्वारा सुन्दर रूप में व्याख्यात किया गया है, जो आचार्य हरिभद्र के अद्भुत वैदुष्य, चिन्तन तथा साधना-प्रसूत अनुभूति-रस का द्योतक है।

तीनों योग और आठ दृष्टियों की पारस्परिक सम्बद्धता के ही कारण आचार्य ने दृष्टियों का विवेचन करने से पूर्व इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग का निरूपण किया है। उन्होंने एक प्रकार से इन्हें योग-दृष्टियों की पृष्ठभूमि या आधार माना। पृष्ठभूमि का बोध हो जाने पर उस पर खड़ी की जाने वाली विशाल अट्टालिका का सरलता से परिज्ञान हो सकता है।

ओघ-दृष्टि

आचार्य ने सबसे पहले दृष्टि के दो भेद किये—ओघ-दृष्टि और योग-दृष्टि। ओघ-दृष्टि की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—

"मेघाच्छन्न रात्रि, मेघरहित रात्रि, मेघयुक्त दिवस एवं मेघरहित दिवस में ग्रह-भूत-प्रेत

---

१. एतत् त्रयमनाश्रित्य विशेषेणैतदुद्भवाः।
योगदृष्टय उच्यन्ते अष्टौ सामान्यतस्तु ताः॥ —योगदृष्टिसमुच्चय १२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि ग्रस्त पुरुष, उनसे अग्रस्त पुरुष, बालक, वयस्क, मोतियाबिन्द आदि से विकृत, मोतियाबिन्द आदि रहित इनकी दृष्टि के समान ओघ-दृष्टि समझनी चाहिए।"[1]

ओघ-दृष्टि का तात्पर्य लोक-प्रवाह का अनुसरण करते हुए साधारण जनों का लौकिक पदार्थोन्मुख सामान्य दर्शन या दृष्टिकोण है। दूसरे शब्दों में इसे यों प्रतिपादित किया जा सकता है कि सांसारिक भाव, सांसारिक सुख, सांसारिक पदार्थ तथा क्रियाकलाप में जो दृष्टि रची-पची रहती है, वह ओघ-दृष्टि है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में आत्म-शक्ति के आवरक कर्मों का क्षयोपशम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिस सीमा या परिमाण तक बाधक कर्म-आवरण क्षीण व उपशान्त होते हैं, उसके अनुरूप दृष्टि का विकास या विस्तार होता है, इसलिए तरतमता की अपेक्षा से वह भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। आचार्य ने कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जैसे—वह रात, जिसमें आकाश बादलों से ढका है, अधिक धुंधली और अंधेरी होती है, बादल-रहित रात कम धुंधली होती है। उसी प्रकार बादलों से घिरा दिन अंधकाराच्छन्न होता है तथा बादलरहित दिन साफ होता है। अंधेरी रात और अंधेरे दिन में कोई वस्तु उतनी स्पष्ट दिखाई नहीं देती, जितनी साफ रात और साफ दिन में दिखाई देती है। भूत, प्रेत आदि से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि एवं बुद्धि अधिक अविशद, अस्पष्ट या विकृत होती है। जो भूत, प्रेत आदि से ग्रस्त नहीं है, उसकी दृष्टि उतनी अविशद नहीं होती। बालक की दृष्टि कम स्पष्ट होती है। वयस्क की दृष्टि अधिक स्पष्ट होती है। जिसकी आंखों में मोतियाबिन्द, जाला आदि होता है, उसे कम दीखता है।

जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ उसकी अपेक्षा साफ दीखता है। बालक का दृष्टिकोण कम स्पष्ट होता है। वयस्क का दृष्टिकोण तदपेक्षया अधिक स्पष्ट होता है। इसी प्रकार कर्म-संबंधी क्षयोपशम की न्यूनता-अधिकता आदि के कारण दृष्टि के वैशद्य में भी तरतमता होती है। तदनुसार लौकिक पदार्थों एवं भावों को भिन्न-भिन्न प्रकार से लोकोन्मुख दृष्टि द्वारा देखने व अधिगत करने के जो भेद हैं, वे ओघ-दृष्टि के अन्तर्गत आते हैं।

ओघ-दृष्टि अतात्त्विक, सर्वथा व्यावहारिक, मात्र लोकजनीन होती है। जीवन के अन्तः सत्त्व की ओर इसका रुझान नहीं होता।

योग-दृष्टि

आत्म-तत्त्व, जीवन के सत्य-स्वरूप अथवा अध्यात्म-दृष्ट्या ज्ञेय, उपादेय विषयों को देखने की दृष्टि योग-दृष्टि कही जाती है। यह भी द्रष्टा के कर्म-सम्बन्धी क्षयोपशम की तरतमता से, भिन्नकोटिकता से जनित अधिक स्पष्टता, कम स्पष्टता के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह योग-मार्ग—आत्म-स्वरूप से जोड़ने वाले साधना-पथ का अनुसरण कर चलती है, इसलिए इसे योग-दृष्टि, योगी या साधक की दृष्टि कहा जाता है।

---

१. समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत्।
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया॥ —योगदृष्टिसमुच्चय १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठ दृष्टियां : स्वरूप

आचार्य हरिभद्र सूरि ने आठ योग-दृष्टियों को संक्षेप में परिभाषित करते हुए लिखा है—

"तृण के अग्निकण, गोबर या उपले के अग्निकण, काठ के अग्निकण, दीपक की प्रभा, रत्न की प्रभा, तारे की प्रभा, सूर्य की प्रभा तथा चन्द्र की प्रभा के सदृश साधक की दृष्टि आठ प्रकार की होती है ॥"[1]

आचार्य ने प्रकाशमूलक विभिन्न उपमानों द्वारा दृष्टियों का स्वरूप प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

मित्रा

मित्रा पहली दृष्टि है, जिसे तृण के अग्निकणों से उपमित किया गया है। तिनकों की अग्नि नाम से अग्नि तो कही जाती है, पर उसके सहारे किसी वस्तु का स्पष्टरूप से दर्शन हो नहीं पाता। उसका प्रकाश क्षण भर के लिए होता है, फिर मिट जाता है, बहुत मन्द, धुंधला या हलका होता है। मित्रा दृष्टि के साथ भी इसी प्रकार की बात है। उसमें बोध की एक हलकी-सी ज्योति एक झलक के रूप में आती तो है, पर वह टिकती नहीं। इसलिए तात्त्विक और पारमार्थिक दृष्ट्या उससे अभीप्सित बोध हो नहीं पाता। वह अल्पस्थितिक होती है। मन्द, हल्की, धुंधली और स्वल्पशक्तिक होती है, इसलिए कोई संस्कार निष्पन्न कर नहीं पाती, जिसके सहारे व्यक्ति आध्यात्मिक बोध की ओर गति कर सके। केवल इतना-सा उपयोग इसका है, बोधमय प्रकाश की एक हल्की रश्मि-सी आविर्भूत हो जाती है, जो मन में आध्यात्मिक बोध के प्रति बहुत हल्का सा आकर्षण पैदा कर जाती है। संस्कार बनता नहीं, इसलिए ऐसे व्यक्ति द्वारा भावात्मक दृष्टि से शुभ कार्य का समाचरण यथावत् रूप में सधता नहीं, बाह्य या द्रव्यात्मक दृष्टि से वैसा होता है अर्थात् आन्तरिक वृत्ति में अध्यात्मोन्मुख स्पन्दन आविष्कृत नहीं होता।

तारा

तारा दूसरी दृष्टि है। इसका बोध गोबर या उपले के अग्निकणों से उपमित किया गया है। तिनकों के अग्नि-कण और उपले के अग्नि-कण प्रकाश और उष्मा की दृष्टि से कुछ तरतमता लिए रहते हैं। तिनकों की अग्नि की अपेक्षा उपलों की अग्नि प्रकाश की दृष्टि से कुछ विशिष्ट होती है, पर बहुत अन्तर नहीं होता। उपलों की अग्नि का प्रकाश भी अल्प-कालिक होता है, लम्बे समय तक टिक नहीं पाता। मन्द और अल्पशक्तिक होता है, इसलिए उसके सहारे भी किसी पदार्थ का सम्यक्तया दर्शन हो नहीं पाता। तारा दृष्टि की ऐसी ही स्थिति है। उसमें बोधमय प्रकाश की जो झलक उद्भासित होती है, यद्यपि वह मित्रा दृष्टि में होने वाले प्रकाश से कुछ तीव्र अवश्य होती है, पर स्थिरता, शक्ति आदि अपेक्षा से अधिक

---

१. तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा।
रत्नताराार्कचन्द्राभासद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर नहीं होता, इसलिए उससे भी साधक का कोई विशेष काम नहीं बनता। इतना-सा है, मित्रा दृष्टि में जो दिव्य झलक मिली थी, वह कुछ अधिक ज्योतिर्मयता के साथ साधक को तारा दृष्टि में प्राप्त होती है। क्षणिक, मन्द, अस्थायी तथा अल्पशक्तिक होते हुए भी तरतमता की दृष्टि से मित्रा की अपेक्षा इसमें न्यून ही सही, पर बोधज्योति का थोड़ा फर्क अवश्य रहता है, जो साधक को सहसा अध्यात्म-उद्बोध की कुछ विशद झलक दे जाता है, पर उसका भी पीछे कोई संस्कार नहीं छूट पाता, इसलिए साधक के कार्य-व्यापार में द्रव्यात्मकता से अधिक विकास नहीं होता।

बला

बला तीसरी दृष्टि है। आचार्य ने इस दृष्टि में उद्भव पाने वाले बोध को काठ के अग्नि-कणों की उपमा दी है। काठ की अग्नि का प्रकाश कुछ स्थिर होता है, अधिक समय टिकता है, कुछ शक्तिमान् भी होता है। इसी प्रकार बला दृष्टि में उत्पन्न बोध आया और गया ऐसा नहीं होता। वह कुछ टिकता भी है। सशक्त भी होता है, इसलिए वह संस्कार भी छोड़ता है। छोड़ा हुआ संस्कार ऐसा होता है, जो तत्काल मिटता नहीं। स्मृति में आ स्थित हो जाता है। वैसे संस्कार की विद्यमानता साधक को जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर उद्बुद्ध किए रहने का प्रयास करती है, जिससे साधक में सत्कर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति की परिणति चेष्टा या प्रयत्न में होती है।

दीप्रा

दीप्रा चौथी दृष्टि है। इसमें होने वाला बोध दीपक की प्रभा से उपमित किया गया है। पूर्वोक्त तीन दृष्टियों में उपमान के रूप में जिन-जिन प्रकाशों का उल्लेख हुआ है, दीपक का प्रकाश उनसे विशिष्ट है। वह लम्बे समय तक टिकता है। उसमें अपेक्षाकृत स्थिरता होती है, सर्वथा अल्पबल नहीं होता। उसके सहारे पदार्थ को देखा जा सकता है। उसी प्रकार दीप्रा दृष्टि में होने वाला बोध उपर्युक्त दृष्टियों के बोध की अपेक्षा दीर्घ समय तक टिकता है, अधिक शक्तिमान् होता है। बला दृष्टि की अपेक्षा कुछ और दृढ संस्कार छोड़ता है, जिससे साधक की अन्तःस्फूर्ति, सत्क्रिया के प्रति प्रीति और तदुन्मुख चेष्टा की स्थिति बनी रहती है। इतना तो होता है, पर साधक के क्रिया-कलाप में अब तक सर्वथा भावात्मकता नहीं आ पाती, द्रव्यात्मकता ही रहती है। वन्दन, नमस्कार, सेवा, उपासना, अर्चना जो कुछ वह करता है, वह द्रव्यात्मक, यांत्रिक या बाह्य ही होती है। सत्क्रिया में सम्पूर्ण तन्मयता का भाव उस पुरुष में आ नहीं पाता। इसलिए वह क्रिया भावात्मक नहीं होती।

स्थिरा

स्थिरा पांचवीं दृष्टि है। इसे रत्न की प्रभा से उपमित किया गया है। साधक की यह वह स्थिति है, जहाँ उसे प्राप्त बोध-ज्योति स्थिर हो जाती है। रत्न की प्रभा कभी मिटती नहीं, सहजतया उद्दीप्त रहती है। वैसे ही स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोधमय उद्योत स्थिर रहता है। क्योंकि तब तक साधक का ग्रन्थि-भेद हो चुकता है। राग-द्वेषादि विभाव-ग्रथित दुरूह कर्म-ग्रन्थि वहाँ खुल चुकती है। दृष्टि सम्यक् हो जाती है, मिथ्या अध्यास मिट जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ से भेद-ज्ञान की प्रक्रिया शुरू होती है। आत्मा और पर-पदार्थों की भिन्नता का साधक अनुभव करता है। पर में जो स्व की बुद्धि थी, उस पर सहसा एक चोट पड़ती है और साधक के अन्तरतम में आत्मोन्मुख भाव हिलोरें लेने लगते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने साधक की उस कोटि की आन्तरिक अनुभूति का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उन्होंने उद्‌बुद्धचेता उद्‌भिन्न-ग्रन्थि साधक के चिन्तन के सन्दर्भ में लिखा है—

"निश्चित रूप से मैं दर्शन-ज्ञानमय, सदा अरूपी, एकमात्र शुद्ध आत्मा हूँ, अन्य कुछ भी परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।"[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने और भी स्पष्ट कहा है—

"मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक मात्र उपयोग 'चेतना-व्यापार' रूप हूँ। यों चिन्तन करने वाले को सिद्धान्तवेत्ता ज्ञानी मोहात्मक ममता से ऊंचा उठा हुआ कहते हैं।"[2]

दृष्टि में सम्यक्त्व आ जाने पर आस्था स्थिर हो जाती है, विश्वास सुदृढ़ हो जाता है, जीवन सुस्थिर रूप में आत्म-अभ्युदय के पथ पर गतिशील होने की क्षमता पा लेता है। जिस प्रकार रत्न का प्रकाश मिटता नहीं, उसी तरह स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध अप्रतिपाती होता है। वह एक बार प्राप्त होने पर वापस गिरता नहीं। आंधी, तूफान, वातूल कुछ भी आए, रत्न के प्रकाश पर उनका असर नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक्‌दृष्टि पुरुष पर आने वाले विघ्नों, बाधाओं तथा उपसर्गों का ऐसा प्रभाव नहीं होता कि वह सम्यक्त्व छोड़ दे।

इतना ही नहीं, जैसे रत्न का प्रकाश पाषाण, यंत्र आदि पर घर्षण, परिष्करण, परिमार्जन से और बढ़ जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधक का बोध सद्‌अभ्यास, आत्मानुभूति, सत्‌चिन्तन आदि द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता जाता है।

रत्न का प्रकाश स्वावलम्बी होता है, उसे इसके लिए अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। तैल समाप्त होने पर जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसी बात रत्न के साथ नहीं है। न उसे तैल चाहिए न बाती। वह प्रकाश निरपाय या निर्बाध है। वह अपाय या बाधा से प्रतिबद्ध एवं व्याहत नहीं होता। उसे दूसरा अवलम्बन नहीं चाहिए। यही स्थिति स्थिरा दृष्टि की है। स्थिरा दृष्टि का बोध परावलम्बी नहीं है, स्वावलम्बी है। वह निरपाय और निर्बाध है। उसे कहीं से कोई हानि पहुँचने की आशंका नहीं है।

तृण, कंडे, काठ और दीपक का प्रकाश दूसरों के लिए परितापकारक भी हो सकता है, यदि ठीक से उपयोग न किया जाय, उनसे आग आदि लगकर बड़ी हानि भी हो सकती है। रत्न के प्रकाश में ऐसा नहीं है। वह सर्वथा अपरितापकर है। स्थिरा दृष्टि का बोध भी किसी के लिए परितापकर नहीं होता। वह मृदुल और शीतल होता है। क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय वहाँ उपशान्त हो जाते हैं।

---

१. अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ —समयसार ३८

२. णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥ —समयसार ३६

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

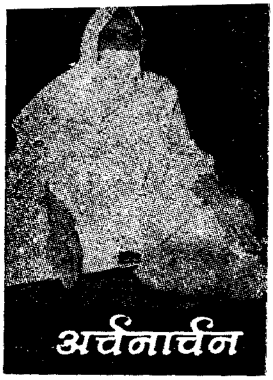

परिताप न देने की बात निषेधात्मक हुई, विध्यात्मक दृष्टि से स्थिरा दृष्टि का बोधमय प्रकाश रत्न की प्रभा की तरह औरों के लिए प्रसादकर होता है। रत्न की कान्ति को देखने से जैसे नेत्र शीतल होते हैं, चित्त उल्लसित होता है, उसी तरह स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध से आत्मा में परितोष होता है, प्रसन्नता होती है। रत्न को देख लेने वाला तुच्छ कांच जैसी वस्तु की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि के बोध द्वारा जिसे आत्म-दर्शन प्राप्त हो जाता है, फिर आत्मेतर-पर या बाह्य वस्तुओं में उसे विशेष औत्सुक्य रह नहीं जाता।

जहाँ आभामय रत्न पड़ा हो, उसके चारों ओर जो भी होता है, यथावत् एवं स्पष्ट दिखाई देता है। वैसे ही स्थिरादृष्टि में प्राप्त बोध से आत्मदर्शन तो होता ही है, तदितर पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे द्रष्टा या दर्शक दृश्यमान वस्तु का उपयोगिता, अनुपयोगिता की दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन कर पाता है।

कान्ता

कान्ता छठी दृष्टि है। आचार्य ने इसे तारे की प्रभा की उपमा दी है। रत्न का प्रकाश हृद्य होता है, उत्तम होता है, पर तारे के प्रकाश जैसी दीप्ति उसमें नहीं होती। तारे का प्रकाश रत्न के प्रकाश से अधिक उद्दीप्त होता है। उसी तरह स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध की अपेक्षा कान्ता दृष्टि का बोध अधिक प्रगाढ़ होता है। तारे की प्रभा आकाश में स्वाभाविक रूप में होती है, सुनिश्चित होती है, अखंडित होती है। उसी तरह कान्ता दृष्टि का बोध-उद्योत अविचल, अखंडित और प्रगाढ़ रूप में चिन्मय आकाश में सहज रूपेण समुद्दीप्त रहता है।

इस दृष्टि को कान्ता नाम देने में भी आचार्य का अपना विशेष दृष्टिकोण है। कान्ता का अर्थ लावण्यमयी प्रियंकरी गृहस्वामिनी है। ऐसी सन्नारी पतिव्रता होती है। पतिव्रता नारी की अपनी विशेषता है। वह घर, परिवार तथा जगत् के सारे काम करते हुए भी एकमात्र अपना चित्त पति से जोड़े रहती है। उसके चिन्तन का मूल केन्द्र उसका पति होता है। कान्ता दृष्टि में पहुँचा हुआ साधक आवश्यकता और कर्त्तव्य की दृष्टि से जहाँ जैसा करना अपेक्षित है, वह सब करता है, पर उसमें आसक्त नहीं होता। अन्ततः उसका मन उसमें रमता नहीं। उसका मन तो एक मात्र श्रुत-निर्दिष्ट धर्म में ही लीन रहता है। उसके चिन्तन का केन्द्र आत्म-स्वरूप में संप्रतिष्ठ होता है। वह अनासक्त कर्मयोगी की स्थिति पा लेता है। गीताकार ने ऐसे अनासक्त कर्मयोगी का बड़ा सुन्दर भाव-चित्र उपस्थित किया है। कहा है—

"तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं। कर्मफल की वासना कभी मत रखो और अकर्म-कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।"[1]

गीता का यह श्लोक बड़ा सारगर्भित है। जैसा बताया गया है, आत्मनिष्ठ व्यक्ति को तो कर्म करने का ही अधिकार है। यदि वह अपने को फल का भी अधिकारी मानने लगेगा तो फल की प्राप्ति, अप्राप्ति, अल्पप्राप्ति, प्रचुर प्राप्ति आदि अनेक विकल्प ऐसे बनेंगे, जो

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ —श्रीमद्भगवद्गीता २.४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके मन को अपने में उलझाए रखेंगे। घोर परिश्रमपूर्वक कर्म करने पर भी यदि कर्ता को समुचित फल नहीं मिलेगा तो उसके मन में खीझ उत्पन्न होगी, क्रोध उत्पन्न होगा, अपेक्षित से अधिक फल मिलेगा तो वह अत्यन्त हर्षित होगा।

जैसे अल्प या अधिक परिश्रम से कर्म किया गया, निश्चित रूप से सर्वत्र वैसा ही फल प्राप्त हो, यह असंभव है। फल-निष्पन्नता में श्रम, स्थिति, सम्बद्ध व्यक्ति, क्षेत्र, व्यवहार, भावी सम्भावना आदि अनेक हेतु हैं। इसलिए अमुक कर्म का फल अमुक हो ही, यह बात बनती नहीं। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि कर्म करना व्यक्ति के अपने हाथ की बात है, फल उसके हाथ में नहीं है। यही कारण है, गीताकार ने व्यक्ति को फल की कामना करने का अधिकारी नहीं बताया है। कर्म का जैसा जो फल मिलना है, वह तो मिलेगा ही, कोई कामना करे या न करे, अतः कामना करने से कुछ बनता भी नहीं पर कामना छोड़ देने से बहुत कुछ बनता है। वैसे व्यक्ति को समुचित फल न मिलने से विषाद नहीं होता, कर्मानुरूप या अधिक फल मिलने पर प्रमाद नहीं होता। फल का मिलना, न मिलना, कम मिलना, ज्यादा मिलना—ऐसी स्थितियाँ उसके मन को विचलित नहीं कर पातीं, उसकी शान्ति को भंग नहीं कर पातीं। यदि मनोवृत्ति को यों साध लिया जाय तो कितना आनन्द हो जाय।

प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध में गीताकार ने और स्पष्ट किया है कि कर्मों के फल को अपने उद्यम का हेतु मत मानो, कर्म के फल की वासना को छोड़ दो।

इतना जोर देकर कहे जाने से कहीं सुनने वाले का कर्म से ही विराग न हो जाय, गीताकार ने उसे और सावधान किया कि तुम कहीं "अकर्मा"—कर्म न करने वाला मत बन जाना। जब कर्म ही नहीं करूंगा तो फल की कामना का प्रश्न ही समाप्त हो जायगा, ऐसा सोचकर कर्मों से मुंह मोड़ लेना भ्रान्ति है। यों कर्म न करने का मानस भी एक आसक्ति है—यह न करने की आसक्ति है। न करने के दुर्बन्ध में उलझाव है, इससे भी बचना होगा। इसलिए उन्होंने कर्ममय जीवन से पृथक् होने से मनुष्य को रोका। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण वे आगे करते हैं—

"आसक्ति का परित्याग कर, सिद्धि-सफलता, असिद्धि—असफलता में समान बनकर, योग में स्थित होकर तुम कर्म करो। यह समत्व ही योग है।[1]

आगे कहा गया है—

"उपर्युक्त बुद्धियोग से—फल के प्रति निष्काम रहते हुए किए जाने वाले कर्म की तुलना में फल की कामना के साथ किया जाने वाला कर्म तुच्छ है। इसलिए तुम बुद्धियोग—समत्वयोग का आश्रय लो। वास्तव में फल की कामना करने वाले व्यक्ति अत्यन्त कृपण-दीन हैं।[2]

---

१. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ —श्रीमद्भगवद्गीता २. ४८

२. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता २.४९

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग, संन्यास आदि के सन्दर्भ में गीता के १८वें अध्याय में बहुत ही मार्मिक विवेचन हुआ है। कहा है—

"काम्यकर्मों का त्याग संन्याय है, ऐसा ज्ञानीजन जानते हैं। सब कर्मों के फल का त्याग त्याग है, ऐसा विचारशील पुरुष बतलाते हैं।"[1]

धन, धान्य, स्त्री, पुत्र तथा अन्यान्य प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए एवं रोग, दुःख, विघ्न, बाधा आदि की निवृत्ति के लिए जो उपासना, पूजा, तप, दान, यज्ञ आदि कर्म किए जाते हैं, उन्हें काम्यकर्म कहा जाता है। गीताकार द्वारा प्रतिपादित काम्यकर्मों के त्याग का आशय यह है कि इन धार्मिक कर्मों के साथ लौकिक सुख मिले, यह इच्छा करना, लौकिक कष्ट मिटें, ऐसी कामना करना, ऐसे भाव जो जुड़े हुए हैं, वे अपगत हो जायं। वैसा होने पर ये सत्कार्य तो रहेंगे पर इनका काम्य विशेषण हट जायेगा।

गीताकार ने यहाँ सब कर्मों के त्याग को त्याग नहीं कहा है, सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहा है। त्याग की बड़ी सूक्ष्म और गहन परिभाषा यह है। जब तक देह है, इन्द्रियां हैं, मन है, यह जागतिक जीवन है, कभी कर्म छूट सकता है?

कान्ता-दृष्टि-प्राप्त साधक गीताकार के शब्दों में उत्तम, निष्काम कर्मयोगी की भूमिका का सम्यक् निर्वाह करता है।

वैसी स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण सत्-क्रिया के भावानुष्ठान में वह सोत्साह संलग्न रहता है। अनुष्ठान शब्द अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अनु उपसर्ग का अर्थ पीछे या अनुरूप है। सम्यक् ज्ञानी की क्रिया उस द्वारा प्राप्त आत्मा-ज्ञान के अनुरूप या उसका अनुसरण करती हुई गतिशील रहती है वह भाव-क्रिया है। वहाँ क्रियमाण कर्म में केवल दैहिकयोग नहीं होता, आत्मा का लगाव होता है। वैसा पुरुष अनवरत धर्म के आचरण या सच्चारित्र के अनुपालन में उद्यमशील रहता है। एक ऐसी अन्तर्जागृति साधक में पैदा हो जाती है कि वह स्वभाव में अनुरत और परभाव से विरत रहने में इच्छाशील तथा यत्नशील रहता है। परभाव से पृथक् रहने के समुद्यम का यह प्रतिफल है, उसके सद् आचरण में कोई अतिचार—प्रतिकूल कर्म या दोष नहीं होता। अशुभ-पापमूलक, शुभ-पुण्यमूलक उपयोग से ऊंचा उठ वह साधक शुद्धोपयोग के अनुष्ठान की भूमिका में अवस्थित हो जाता है। आत्मा के निर्लिप्त, राग, द्वेष, मोह आदि से असंपृक्त शुद्ध स्वरूप की भव्य भावना का वह अनुचिन्तन करता है।

ऐसे साधक की प्रमाद-रहित साधना-भूमि और विशिष्ट बनती जाती है। ऐसा अप्रमाद वह अधिगत कर लेता है कि फिर उसको उसके स्वरूप से भ्रष्ट या च्युत करने वाला प्रमाद वहाँ फटक नहीं सकता।

ऐसे साधक की एक विशेषता और होती है। साधना के अनुभव-रस का जो पान वह कर चुका होता है, ज्ञान एवं दर्शन का जैसा प्रत्यय, बोध, अनुभव वह पा चुका होता है,

---

१. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता १८.२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससे औरों को भी लाभ मिले, औरों को भी वह ऐसे मार्ग से जोड़ सके, इस प्रकार का उद्यम भी उसका रहता है।

निर्मल आत्म-ज्ञान के उद्योत के कारण ऐसे साधक का व्यक्तित्व धर्म के आचरण की दृष्टि से बहुत गम्भीर और उदार भूमिका का संस्पर्श कर जाता है। समुद्र की-सी गंभीरता उसके व्यक्तित्व का विशेष गुण हो जाता है।

प्रभा

प्रभा सातवीं दृष्टि है। आचार्य ने सूर्य के प्रकाश की इसको उपमा दी है। तारे और सूर्य के प्रकाश में बहुत बड़ा अन्तर है। तारे की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश अनेक गुना अधिक अवगाढ और तीव्र तेजोमय होता है। प्रभा दृष्टि का बोध-प्रकाश भी अत्यन्त तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है। कान्ता दृष्टि की अपेक्षा प्रभादृष्टि के प्रकाश की प्रगाढता बहुत अधिक बढ़ी चढ़ी होती है। सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित होता है। उसके सहारे सब कुछ दीखता है। ऐसी ही स्थिति प्रभा दृष्टि की है। वहाँ पहुँचे हुए साधक को समग्र पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रचुर तेजोमयता तथा प्रभाशालिता के कारण आचार्य ने इस दृष्टि का नाम ही प्रभा दे दिया, जो बहुत संगत है।

जहाँ इस कोटि का बोधमूलक प्रकाश उद्भासित होता है, वहाँ साधक की स्थिति बहुत ऊँची हो जाती है। वह सर्वथा अखण्ड आत्म-ध्यान में निरत रहता है। ऐसा होने से उसकी मनोभूमि विकल्पावस्था से प्रायः ऊँची उठ जाती है। ऐसी उत्तम, अविचल ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिसीम सुख का स्रोत फूट पड़ता है। वह सुख परम शान्ति-रूप होता है, जिसे पाने के लिए साधक साधना-पथ पर गतिमान् हुआ था। यह ऐसा सुख होता है, जिसमें आत्मेतर किसी भी पदार्थ का अवलम्बन नहीं होता। यह पर-वशता से सर्वथा अस्पृष्ट होता है।

यहाँ साधक का प्रातिभ ज्ञान या अनुभूति-प्रसूत ज्ञान इतना प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है कि उसे शास्त्र का प्रयोजन रहता नहीं। ज्ञान का प्रत्यक्ष या साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्मसाधना की यह बहुत ऊँची स्थिति है। उस समाधिनिष्ठ योगी की साधना के परम दिव्य भाव-कण आसपास के वातावरण में एक ऐसी पवित्रता संभृत कर देते हैं कि उस महापुरुष की सन्निधि में आने वाले जन्मजात शत्रुभावापन्न प्राणी भी अपना वैर भूल जाते हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, सचाई है। ऐसे महान् योगी के परम दिव्य करुणा का, जिसे बौद्ध वाङ्मय में "महाकरुणा" कहा गया है, ऐसा अमल, धवल स्रोत फूट पड़ता है, वह अन्य प्राणियों का भी उपकार करना चाहता है, श्रेयस् और कल्याण का मार्ग दिखाकर उन्हें अनुगृहीत करना चाहता है। यह सब स्वभावगत परिणाम-धारा से सम्बद्ध है। वहाँ कृत्रिमता का कहीं लेश भी नहीं होता।

परा

परा आठवीं दृष्टि है। आचार्य ने इसे चन्द्रमा की प्रभा से उपमित किया है। सूर्य का प्रकाश बहुत तेजस्वी तो है पर उसमें उग्रता होती है। इसलिए आलोक देने के साथ-साथ वह उत्ताप भी उत्पन्न करता है। सूर्य की अपेक्षा चन्द्र के प्रकाश में कुछ अद्भुत वैशिष्ट्य

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

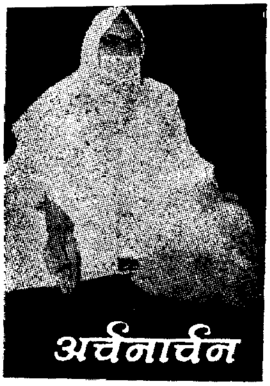

है। वह परम शीतल, अत्यन्त सौम्य तथा शान्त होता है, सहज रूप में सबके लिए आनन्द, आह्लाद और उल्लासप्रद होता है। प्रकाशकता की दृष्टि से सूर्य के प्रकाश से उसमें न्यूनता नहीं है। सूर्य दिन में समग्र विश्व को प्रकाशित करता है तो चन्द्रमा रात में। दोनों प्रकाश अपने आप में परिपूर्ण हैं पर हृद्यता, मनोज्ञता की दृष्टि से चन्द्रमा का प्रकाश निश्चय ही सूर्य के प्रकाश से उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

परा दृष्टि साधक की साधना का उत्कृष्टतम रूप है। चन्द्र की ज्योत्स्ना सारे विश्व को उद्योतित करती है, उसी तरह अर्थात् षोडश कलायुक्त परिपूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्ना के सदृश परा दृष्टि में प्राप्त बोध-प्रभा समस्त विश्व को, जो ज्ञेयात्मक है, उद्योतित करती है। साधक इस अवस्था में इतना आत्माभिरत या आत्मस्थ हो जाता है कि उसकी बोध-ज्योति उद्योत तो अव्याबाध रूप में सर्वत्र करती है पर अपने स्वरूप में अधिष्ठित रहती है, उद्योत्य, प्रकाश्य या ज्ञेयरूप नहीं बन जाती। चन्द्र-ज्योत्स्ना यद्यपि समस्त जागतिक पदार्थों को आभामय बना देती है। पर पदार्थमय नहीं बनती। परा दृष्टि में पहुँचा हुआ साधक ऐसी ही सर्वथा स्वाश्रित, स्वभावनिष्ठ, दिव्य, सौम्य बोध-ज्योति से आभासित रहता है। उसकी स्थिति सर्वथा आत्म-परायण अथवा स्वभाव-परायण बन जाती है, जिसे वेदान्त की भाषा में विशुद्ध अद्वैत से उपमित किया जा सकता है।

साधक की यह सद्ध्यानरूप दशा है, जिसमें अव्यवहित तथा निरन्तर आत्म-समाधि विद्यमान रहती है। आत्म-स्वरूप में निष्प्रयास परिरमण की यह उच्चतम दशा है, जिसका सुख सर्वथा निर्विकल्प है। बोध तो निर्विकल्प है ही। बोध और सुख की निर्विकल्पता में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपदी एकमात्र अभेद आत्म-स्वरूप में परिणत हो जाती है, जहाँ द्वैतभाव सर्वथा विलय पा लेता है। यह साधक की परम सुखावस्था है। पर ब्रह्मनिष्ठ योगी वहाँ आनन्दघन बन जाता है। परम आत्म-सुख या निरुपम ब्रह्मानन्द का वह आस्वाद लेता है। साध्य सध जाता है, करणीय कृत हो जाता है, प्राप्य प्राप्त हो जाता है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org